Online ISSN: 2455 - 0256 Print ISSN 2394 - 9805

हिन्दी काव्य धारा में संतकाव्य : उद्‌भव एवं विकास

अंकित मिश्रा

शोध छात्र, (जे0आर0एफ0 / यू0जी0सी0), गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

काव्य के सम्बन्ध में अनेक सहित्यज्ञों ने बहुत कुछ विचार किया है। उन्होंने इसकी भिन्न–भिन्न परिभाषाए भी दी है। भरत मुनि से लेकर आधुनिक विद्वानों तक ने इस ओर सदा अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार ध्यान दिया है और उसी के आधार पर उन्होंने इसका परिचय देने का भी प्रयत्न किया है। किसी काव्य में प्रधानतः दो बातें देखने में आती है। उनमें से एक का सम्बन्ध उसके विषय से होता है और दूसरी का उसकी भाषा के साथ रहा करता है। भाषा की दृष्टि से उसकी उत्कृष्टता प्रायः उसके शब्द चयन, वाक्य रचना एवं वर्णन शैली में देखी जा सकती है और विषय की दृष्टि से उसकी खोज उसके भावगांर्भीय अर्थगौरव तथा उस उद्‌देश्य में की जाती है जिसकी ओर वह संकेत करता है। दोनों में से किसी एक विशेषता के ही कारण कोई काव्य क्रमशः भाषा प्रधान या भाव प्रधान कहा जाता है। पहले प्रकार के काव्य का रचयिता किसी विषय को लेकर उसकी वर्णन शैली में अपनी सारी प्रतिभापटुता प्रदर्शित करता हुआ लक्षित होता है। वह अपने वाक्यों में शब्द–सौन्दर्य भरता है, विविध अलंकारों के प्रयोग करता है, लय का आयोजन करता है और अपने भावों को ऐसी निपुणता के साथ व्यक्त करता है जिससे उसकी कृति में एक प्रकार का चमत्कार सा आ जाता है। परन्तु दूसरे प्रकार का कवि अपने वर्णन के साधनों की ओर उतना ध्यान नहीं देता। उसका वर्ण्य–विषय उसे इतनी गहराई तक प्रभावित किये रहता है कि उसे ज्यों का त्यों व्यक्त कर देने में ही उसे एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। भाषा का सौन्दर्य यहाँ पर वास्तविक भावों को यथावत वहन करने वाली उसकी क्षमता में ही देखा जाता है, उसके बाह्य रूप की सजावट में नहीं।

हिन्दी काव्य का इतिहास कम पुराना नहीं है। अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी की वेश–भूषा में इसके उदाहरण विक्रम की 9 वीं शताब्दी से ही मिलने लगते है जिनमें से कुछ तो प्रबन्ध काव्य है और दूसरे पदों आदि के रूप में दिखते है। उस काल से हिन्दी भाषा का क्रमशः निखरना आरम्भ हो जाता है और उसका वास्तविक हिन्दी रूप विक्रम की 13 वीं शताब्दी में जाकर प्रकट होता है। इस काल तक रची गई काव्यों की सबदियों, चारणों के छप्पयों, भक्तों के पदों तथा अज्ञात कवियों की प्रेम–कथाओं में हमें इसके अनेक शब्द एवं वाक्य कुछ परिचित से समझ पढ़ने लगते है। इस समय अपने चारों ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि हिन्दी काव्य की सरिता एक से अधिक स्त्रोतों में प्रवाहित हो रही है जिनके मूल उद्‌गमों की परम्पराएँ भिन्न–भिन्न है। उदाहरणार्थ यदि एक लगाव योग और साम्प्रदायिक विषयों से ही है तो दूसरे का श्रद्धा और भक्ति के साथ है। दार्शनिक एवं धार्मिक विषय हिन्दी काव्य धारा की कदाचित् सबसे प्राचीन वर्ण्य–विषय वस्तु रही है। उसका अस्तित्व अपभ्रंश के रूप में भी पाया जाता है। विक्रम की 9 वीं शताब्दी में सर्वप्रथम बौद्धो की रचनाए मिलती जिनमें वज्रयान एवं सहजयान सम्बन्धी साम्प्रदायिक विचारों और उनकी साधनाओं की चर्चा की गई है। उस काल की प्रायः सभी वैसी रचनाओं में हमें कुछ नैतिक बातों का समावेश दिखलाई पड़ता है क्योंकि ये सभी रचनाएँ अधिकतर साम्प्रदायिक प्रेरणा से ही लिखी गई है और इनमें स्वभावतः उपदेशों का ही भरमार है।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग से ही भारत पर मुसलमान आक्रमणकारियों के आक्रमण होने लगे थे। संवत् 769 में उन्होंने सिन्ध प्रदेश पर पहले धावा किया और फिर 11 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में महमूद गजनी के हमले हुए जिनमें यहाँ की सम्पत्ति कई बार लूटी गई। उस समय भारत

समृद्धशाली देश था और यहाँ की कृषि, कला एवं वाणिज्य की प्रसिद्धि दूर–दूर तक फैल चूकी थी। यहाँ के राजा, सेठ एवं महन्त जैसे लोग विलासिता में निमग्न रहा करते थे उनके तथा साधारण जनता के बीच बहुत बड़ी खाई बन गई थी। राजाओं के दरबार लगते थे जहाँ सेवको तथा चाटूकारों की भीड़ लगी रहती थी। फलतः विक्रम की 13 वीं शताब्दी के मध्यकाल में जब शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने धावा बोला तब स्थिति सम्भाली न जा सकी और दिल्ली शासन को बहुत दिनों के लिए पराधीन बन जाना पड़ा। विक्रम की 16 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मुगल राज्य की स्थापना होने से पहले तक कई भिन्न–भिन्न मुस्लिम वंशों ने शासन किया। किन्तु शान्ति व समृद्धि में वृद्धि की अपेक्षा बराबर कमी ही होती गई।

विक्रम की 12 वीं एवं 13 वीं शताब्दियों का युग वैष्णव धर्म के तीन प्रमुख आचार्य श्री रामानुज, निम्बार्क एवं मध्व के आविर्भाव का भी समय था जिसमें वेदांत मूलक भक्ति मार्ग का प्रचार संगठित रूप से आरम्भ हुआ और दक्षिण से लेकर उत्तर तक बड़े वेग के साथ फैलने लगा। वैष्णव धर्म की रागानुगा शाखा का प्रचार कुछ आगे चलकर आरम्भ हुआ जब 'श्रीमद्भागवत' को अधिक महत्व दिया जाने लगा और प्रेममूलक भक्ति का उपदेश दिया जाने लगा। विक्रम की 12 वीं शताब्दी के ही लगभग यहाँ पर उस नवांगत विदेशी धर्म का भी संगाठित प्रचार आरम्भ हुआ जिसका नाम मजहबे इस्लाम था और जिसे तत्कालीन मुस्लिम शासको की राजकीय सहायता भी उपलब्ध थी। अतएव भारतीय समाज को इसके कारण विवश होकर अपने आचार एवं संगठन के नियमों में अनेक परिवर्तन करने पड़ गये।

संत परम्परा का प्रथम युग वस्तुत संत जयदेव से आरम्भ होता है और उनके पीछे दो सौ वर्षो तक के संत अधिकतर पथ प्रदर्शकों के रूप में ही आते दिखाई पड़ते है। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर साहब का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सर्व प्रथम संत मत के निश्चित सिद्धान्तों का प्रचार विस्तार के साथ एवं स्पष्ट शब्दों में आरम्भ किया। उनके समसामयिक संतों द्वारा उनके उक्त कार्य में प्रोत्साहन भी मिलने लगा। उन्होंने अपने कतिपय विचारों को स्वतंत्र रूप से प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। स्वामी रामानन्द, रविदास एवं पीपा आदि संत भी प्रायः समान भावों द्वारा अनुप्राणित थे और इसी नवीन संतमत के प्रचार में प्रायः सभी का सहयोग लगभग एक ही प्रकार का रहा। संत कबीर ने स्वामी रामानन्द को अपना दीक्षा गुरू स्वीकार किया था। संत रविदास (रैदास), सेन, पीपा, धन्ना आदि उनके गुरू भाई थे। उक्त स्वामी जी के ही उपदेशों से प्रभावित होकर इन सभी लोगों ने संत परम्परा का सूत्रपात किया था। परन्तु इसके लिए न तो कोई स्पष्ट तथा ऐतिहासिक प्रमाण मिलते है और न इन संतो की रचनाओं द्वारा ही इसकी पुष्टि होती है। इन सभी महापुरूषों के किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के विषय में अनुमान करना अधिकतर जनश्रुतियों तथा पौराणिक गाथाओं के आधार पर ही सम्भव कहा जा सकता है। संतों ने किसी धर्मग्रन्थ, संम्प्रदाय अथवा वर्ग विशेष का आश्रय न ग्रहण करके अपने मंतव्यों पर सदा दृढ़ रहे और उन्होंने उनका पूरी निर्भिकता से प्रचार–प्रसार किया। उन्होंने सभी प्रचलित धर्मों के मूल सिद्धान्तों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की किन्तु उनके बाह्य आचारों को गौण स्थान दिया। वे थोथी विडंम्बनाओं के प्रबल विरोधी थे और सत्य व ईश्वर के नाम पर ढ़ोग रचने अथवा स्वार्थ साधन करने वालों को खरीखोटी सुनाने में कभी नहीं चूकते थे। उनकी सारी बाते निजी अनुभव को ही अपनी कसौटी के लिए लक्ष्य बनाती थी। अतएव उनके हृदय की सच्चाई के प्रति विश्वास का होना असम्भव न था और धीरे–धीरे सभी उन्हें श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।

संतो की रचनाओं के प्रधान विषय सत् व परमतत्व रूपी राम के स्वरूप का दिग्दर्शन, उसके प्रति प्रकट किये गये विविध उद्गार, आत्म निवेदन, नामस्मरण की साधना, सात्विक जीवन का महत्व तथा उसके लिए दिये गये उपदेश आदि कहे जा सकते है। उन्होंने सांसारिक बातों में

मोहासक्त लोगों का भी वर्णन किया और उनके साम्प्रदायिक एवं सामाजिक भेदभावों की आलोचना की है। उन्होंने आदर्श संत को सत् का प्रतीक माना है और अपने पथ–प्रदर्शक सतगुरू को भी वही महत्व प्रदान किया है। अपनी रचनाओं में ये सर्वत्र उनके सद्गुणों एवं आदर्शो की ओर ही ध्यान देते है। इसी प्रकार परमतत्व का वर्णन करते समय उसके सभी लक्षण अपनी अनुभूति व अनुमान पर ही आश्रित करते चले जाते है। उसकी न तो कोई दार्शनिक व्याख्या करते है, न उसके स्पष्टीकरण में किसी तर्क का प्रयोग ही करते है। इनके दिये गये परिचय अधिकतर प्रशंसात्मक बनकर ही रह गये है और उनके द्वारा किसी मूर्तभाव की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती। संतो ने इसका कारण भी बतला दिया है और कहा कि उसकी जानकारी स्वानुभूति की कोटि में आ जाती है। उसका ठीक–ठीक वर्णन करना भाषा जैसे सीमित माध्यम के द्वारा भी सम्भव नहीं कहा जा सकता है। संत साहित्य की अधिक वृद्धि का एक प्रमुख कारण उसमें सम्मिलित की जाने वाली साम्प्रदायिक रचनाओं की एक बड़ी संख्या भी कही जा सकती है।

पहले के संतों ने अपनी रचनाएँ किसी व्यवस्थित रूप में नहीं की थी। उन्होंने अपने भावों को केवल प्रकट मात्र कर दिया था। वे जो कुछ अनुभव करते थे उसे विविध पक्षों द्वारा व्यक्त कर देते थे और उनकी ऐसी पंक्तियों को लोग बहुधा लिख भी लेते थे। पीछे आने वाले संतों में अपनी ऐसी रचनाओं को स्वयं लिपिबद्ध करने की प्रवृत्ति दिख पड़ी। वे अपनी फुटकर पंक्तियों को संग्रहों के अतिरिक्त कभी–कभी ऐसे भी ग्रन्थ लिखने लगे जिनमें सिद्धांतो का निरूपण रहा करता था। फिर भी इन संतों का जितना ध्यान फुटकर पदों, साखियों एवं अन्य ऐसे पद्यों के लिखने की ओर था, उतना कथात्मक रचनाओं की ओर नहीं था। पहले के संतो का मुख्य ध्येय अपने सिद्धांतों एवं साधनाओं का स्पष्टीकरण तथा प्रचार मात्र था। संतों की रचनाओं का प्राचीन रूप उनके पदों एवं साखियों में ही दिख पड़ता है। पदों की रचना, वस्तुतः हिन्दी भाषा के आदि युग व अपभ्रंशकाल से ही होती चली आई है और उनका प्रारम्भिक रूप बौद्धों के चार्या गीतियों में हमें मिलता है। दक्षिण भारत में स्वामी रामानुजाचार्य के दादागुरू नाथमुनि ने सर्वप्रथम ''नाडायिर प्रबन्धम्'' के नाम से 4000 भजनों का संग्रह किया था जिनका पाठ आज भी वहाँ के मन्दिरों में होता आ रहा है। संत कवियों की रचनाएँ भी इसी प्रकार गेयपदों के रूप में स्वीकृत की जाती है और ये ''सबद (शब्द) व भजन ''साखी'' के नाम से प्रसिद्ध है और इनका रूप अधिकतर दोहों का–सा पाया जाता है। साखी शब्द ''साक्षी'' शब्द का रूपान्तर जान पड़ता है जिसका अर्थ किसी बात को अपनी आँखों से देख चुका होना होता है। संतो के साखियों में विशेषकर वही बातें पायी जाती है जिनका उनके रचयिताओं ने दैनिक जीवन में भलि–भाँति अनुभव कर लिया हो संतों ने जिस एक तीसरे ढंग की रचनाओं को अधिक अपनाया है, वे दोहों–चौपाईयों में लिखी गई और वर्णात्मक है। दोहों–चौपाइयों का एक साथ किया गया इस प्रकार का प्रयोग बहुत पहले नहीं दिखता, किन्तु जिस प्रकार कबीर दास जी ने अपनी ''रमैनी'' में कतिपय चौपाइयों के अनन्तर दोहे का क्रम बांधाँ है उस प्रकार का प्रयोग स्वयंभू कवि की अपभ्रंश ''रामायण'' में भी किया गया मिलता है जो सं0 800 के लगभग रची गई थी। मूलतः संत काव्यों में परम तत्व के अनुभूत लक्षण, उसके प्रति प्रदर्शित विविध भाव, संसार की दूरव्यवस्था, आत्मनिवेदन एवं चेतावनी आदि विषय ही विशेष रूप में दिख पड़ते है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि संतों ने उन्हें अपनी गहरी अनुभूति के अनन्तर अपने व्यक्तिगत उद्गारों के रूप में ही प्रकट किया है। संतों ने जहाँ–जहाँ स्वानुभूति से भिन्न–भिन्न विषयों के वर्णन किये है, वहाँ–वहाँ उनकी प्रतिभा तथा अभ्यास के अनुसार भाषा, छन्द एवं शैली में भी उन्हें बराबर सफलता मिलती गई है। वहाँ उनकी योग्यता स्पष्ट दिखती है। संत लोग रूढ़ संस्कारयुक्त स्वतंत्र विचारों के पोषक और निर्भिक अवश्य थे, किन्तु वस्तुस्थिति से वे कभी दूर भी नहीं जाना चाहते थे उन्होंने अपने भावों को यथावत् और उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करते रहने की निरन्तर चेष्टा की। यदि वे कहीं–कहीं इसमें असफल जान पड़ते है और उनकी

भाषा एवं शैली कहीं–कहीं दुर्बल जान पड़ती है तो इसका कारण सम्भवता यही हो सकता है कि वे कभी–कभी भावावेश में रहा करते थे और अपनी भाषा से कही अधिक अपने भावों पर ही ध्यान केन्द्रित रखते थे। उनमें अधिक संख्या में ऐसे लोग ही थे जो प्रायः अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित कहलाते थे और जो इसी कारण साहित्य शास्त्रीय, काव्य रचना–पद्धति में कभी दक्ष या कुशल कहलाने योग्य नहीं होते थे।

जो भी हो ये संत कवि कम से कम 500 वर्षो से भी अधिक समय से एक विशिष्ट विचारधारा एवं निश्चित कार्यक्रम के पोषक और समर्थक बने रहते आए है। अपने जीवन में उनका प्रतिनिधित्व करने की भी इन्होंने चेष्टा की है। इनकी बातें नितान्त नवीन नहीं है और इनका अन्य व्यक्तियों द्वारा पथ प्रदर्शन किया जाना भी सिद्ध हो सकता है। फिर भी इनकी कुछ अपनी भी महत्वपूर्ण देन है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इनकी एक अपनी संत परम्परा है जो आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है और जिसमें गिने जाने वाले योग्य संतों की बानियाँ सर्वथा संग्रहणीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. चतुर्वेदी, आचार्य परशुराम, संतकाव्य, प्रथम संस्करण, 1952, किताब महत्व, 22, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद।
2. सिंह, मनीषा, काशी की संत परम्परा, प्रथम संस्करण 2009, पिल्गिम्स पब्लिशिंग, बी. 27/98. ए–8. दुर्गाकुण्ड वाराणसी– 221010